Shikshan Sanshodhan : Journal of Arts, Humanities and Social Sciences ISSN(o): 2581-6241
Monthly, Peer-Reviewed, Refereed, Indexed Journal Impact Factor: 9.134
Volume - 9, Issue - 2, February - 2026

DOIs:10.2018/SS/202602006 --:-- Research Paper / Article / Review

राज, ज़मींदारी और प्रतिरोध: प्रतापगढ़ का किसान संघर्ष (1915–1925)

डॉ.मुनेन्द्र सिंह
असिस्टेंट प्रोफेसर, इतिहास एवं एशियन कल्चर विभाग, शिया पी.जी. कॉलेज, लखनऊ
Email - munder.singh@gmail.com

सारांश: यह शोध-पत्र औपनिवेशिक भारत के उत्तर भारतीय क्षेत्र अवध के प्रतापगढ़ ज़िले में 1915 से 1925 के बीच उभरे किसान संघर्षों का ऐतिहासिक, समाजशास्त्रीय तथा सैद्धांतिक विश्लेषण प्रस्तुत करता है। ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन, ज़मींदारी व्यवस्था और ग्रामीण समाज के अंतर्संबंधों के संदर्भ में यह अध्ययन यह दर्शाता है कि किस प्रकार किसानों ने आर्थिक शोषण, सामाजिक अधीनता और संस्थागत अन्याय के विरुद्ध संगठित प्रतिरोध विकसित किया। किसान सभाओं, पंचायत-आधारित न्याय, सामूहिक बहिष्कार और अहिंसक अवज्ञा जैसे रूपों के माध्यम से प्रतापगढ़ के किसानों ने न केवल तात्कालिक आर्थिक मांगें उठाईं, बल्कि ग्रामीण राजनीतिक चेतना और कृषक एजेंसी को भी पुनर्परिभाषित किया। यह अध्ययन एरिक स्टोक्स, रणजीत गुहा, डेविड हार्डिमैन और शाहिद अमीन जैसे इतिहासकारों के कार्यों से संवाद करते हुए मार्क्सवादी तथा सबाल्टर्न दृष्टियों को एकीकृत करता है।

मुख्य शब्द : प्रतापगढ़, किसान आंदोलन, ज़मींदारी, औपनिवेशिक भारत, किसान सभा, सबाल्टर्न अध्ययन ।

1. भूमिका

औपनिवेशिक भारत में ग्रामीण समाज को लंबे समय तक इतिहासलेखन में एक निष्क्रिय, प्रतिक्रियाशील और परिवर्तन-विरोधी इकाई के रूप में प्रस्तुत किया जाता रहा है। किंतु बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में विकसित मार्क्सवादी तथा सबाल्टर्न इतिहासलेखन ने इस धारणा को निर्णायक रूप से चुनौती दी। विशेष रूप से अवध क्षेत्र का प्रतापगढ़ ज़िला इस संदर्भ में अत्यंत महत्वपूर्ण है, जहाँ **1915** से **1925** के बीच उभरे किसान आंदोलनों ने यह स्पष्ट कर दिया कि ग्रामीण समाज औपनिवेशिक सत्ता और ज़मींदारी शोषण के विरुद्ध अपनी स्वतंत्र राजनीतिक चेतना विकसित करने में सक्षम था।

एरिक स्टोक्स ने औपनिवेशिक राज्य और कृषक समाज के संबंधों को **"तनावपूर्ण सह-अस्तित्व" (strained coexistence)** के रूप में परिभाषित किया है, जिसमें सहयोग और टकराव दोनों तत्व विद्यमान रहते हैं **(Stokes, 1978)**। प्रतापगढ़ का किसान संघर्ष इसी अंतर्विरोध का सजीव उदाहरण था। प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात औपनिवेशिक आर्थिक नीतियों ने ग्रामीण जीवन पर गहरा दबाव डाला, जिसके परिणामस्वरूप किसानों के भीतर असंतोष केवल आर्थिक न रहकर राजनीतिक रूप ग्रहण करने लगा।

यह शोध-पत्र **1915–1925** की अवधि पर केंद्रित है, जब स्थानीय असंतोष किसान सभाओं के माध्यम से संगठित आंदोलन में परिणत हुआ। इस अध्ययन का उद्देश्य प्रतापगढ़ के किसान आंदोलन को मात्र एक क्षेत्रीय घटना के रूप में नहीं, बल्कि उत्तर भारत के व्यापक कृषक प्रतिरोध और भारतीय राष्ट्रवादी राजनीति के संदर्भ में समझना है। यह शोध यह भी तर्क प्रस्तुत करता है कि प्रतापगढ़ का किसान संघर्ष औपनिवेशिक भारत में **"नीचे से राजनीति" (politics from below)** की एक महत्वपूर्ण कड़ी था।

2. औपनिवेशिक शासन और ज़मींदारी संरचना

ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के अंतर्गत अवध क्षेत्र में स्थापित ज़मींदारी तथा ताल्लुकेदारी व्यवस्था ने ग्रामीण समाज की आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक संरचना को गहराई से प्रभावित किया। स्थायी बंदोबस्त और उससे संबद्ध प्रशासनिक सुधारों के माध्यम से औपनिवेशिक राज्य ने ज़मींदारों को कर-संग्रह का प्राथमिक माध्यम बना दिया। इस प्रक्रिया में भूमि पर वास्तविक श्रम करने वाले किसान न केवल कर-संरचना के बोझ तले दबे, बल्कि वे धीरे-धीरे कानूनी संरक्षण और

सामाजिक सम्मान—दोनों से वंचित होते चले गए। उत्पादन और स्वामित्व के बीच यह असंतुलन ग्रामीण समाज में गहन वर्गीय विभाजन को जन्म देने वाला सिद्ध हुआ।

प्रतापगढ़ ज़िले में ताल्लुकेदारों की स्थिति विशेष रूप से सुदृढ़ थी। वे केवल भूमि के स्वामी ही नहीं थे, बल्कि स्थानीय प्रशासन, पुलिस और न्यायिक संस्थाओं पर भी उनका प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता था। ज़मींदारों और औपनिवेशिक अधिकारियों के बीच विकसित यह संरचनात्मक गठजोड़ किसानों के लिए शोषण की एक सुसंगठित व्यवस्था में परिणत हुआ, जिसमें लगान-वसूली, बेगार और बेदखली को वैधानिक तथा प्रशासनिक समर्थन प्राप्त था।

बैरिंगटन मूर ने यह तर्क प्रस्तुत किया है कि जब कृषक वर्ग परंपरागत प्रभुत्वशाली वर्गों के साथ किसी प्रकार के सामाजिक या राजनीतिक समझौते की स्थिति में नहीं होता, तब विद्रोह और प्रतिरोध की परिस्थितियाँ स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होती हैं (**Moore, 1966**)। प्रतापगढ़ में ज़मींदारी व्यवस्था ने ठीक ऐसी ही स्थिति निर्मित की। अत्यधिक लगान, अवैध करों की वसूली तथा बेगार जैसी प्रथाएँ और मनमानी बेदखली ने किसानों की आजीविका को लगातार असुरक्षित बना दिया। इसके साथ-साथ औपनिवेशिक न्यायालयों की जटिल, खर्चीली और प्रायः ज़मींदार-समर्थक प्रकृति ने किसानों का औपचारिक न्यायिक व्यवस्था से विश्वास लगभग समाप्त कर दिया।

किसान असंतोष के कारण (1915–1919)

1915 के बाद प्रतापगढ़ ज़िले में किसान असंतोष के आर्थिक, सामाजिक तथा नैतिक—तीनों आयाम क्रमशः स्पष्ट और सघन रूप में उभरने लगे। प्रथम विश्व युद्ध के दौरान और उसके बाद औपनिवेशिक सरकार की वित्तीय आवश्यकताओं में तीव्र वृद्धि हुई, जिसका सीधा प्रभाव ग्रामीण समाज पर पड़ा। कर-संग्रह की नीतियों को और अधिक कठोर बनाया गया, जबकि महँगाई में अभूतपूर्व वृद्धि दर्ज की गई। इसके विपरीत, कृषि उत्पादों के मूल्य अपेक्षाकृत स्थिर बने रहे, जिससे किसानों की वास्तविक आय में लगातार गिरावट आती चली गई। इस आर्थिक असंतुलन ने ग्रामीण जीवन की बुनियादी संरचना को अस्थिर कर दिया और किसान वर्ग को निरंतर संकट की स्थिति में धकेल दिया।

डेविड हार्डिमैन के अनुसार, औपनिवेशिक भारत में कृषक प्रतिरोध केवल अकस्मात या असाधारण परिस्थितियों की उपज नहीं होता, बल्कि वह रोज़मर्रा के शोषण, अपमान और असुरक्षा के सतत अनुभवों से विकसित होता है (**Hardiman, 1992**)। प्रतापगढ़ में बेगार और हरि जैसी प्रथाओं ने किसानों के श्रम को बिना किसी पारिश्रमिक के ज़मींदारों के अधीन बनाए रखा। ये प्रथाएँ केवल आर्थिक शोषण के साधन नहीं थीं, बल्कि वे सामाजिक अधीनता और सत्ता के असमान संबंधों की निरंतर पुनरुत्पत्ति भी करती थीं। इसके साथ-साथ, बेदखली की बढ़ती घटनाओं ने किसानों की भूमि-सुरक्षा की भावना को गहराई से आघात पहुँचाया, जिससे उनकी सामाजिक पहचान और आजीविका—दोनों संकट में पड़ गईं।

इस परिप्रेक्ष्य में ई.पी. थॉम्पसन द्वारा प्रतिपादित "नैतिक अर्थव्यवस्था" (**moral economy**) की अवधारणा विशेष रूप से प्रासंगिक प्रतीत होती है। थॉम्पसन के अनुसार, जनसमूह केवल आर्थिक हानि के कारण विद्रोह नहीं करता, बल्कि तब प्रतिरोध करता है जब पारंपरिक सामाजिक अनुबंधों और नैतिक अपेक्षाओं का उल्लंघन होता है (**Thompson, 1971**)। प्रतापगढ़ के किसानों के लिए ज़मींदारों द्वारा मनमानी वसूली, अनुचित कर, और औपनिवेशिक प्रशासन की निरंतर उदासीनता ने उन नैतिक सीमाओं का उल्लंघन किया, जिन्हें वे सामाजिक रूप से स्वीकार्य मानते थे। इस प्रकार, आर्थिक संकट धीरे-धीरे नैतिक आक्रोश में परिवर्तित हुआ, जिसने आगे चलकर संगठित प्रतिरोध और सामूहिक आंदोलन का रूप ग्रहण किया।

किसान सभा आंदोलन का उदय **(1919–1922)**

1918 में गठित यूनाइटेड प्रोविन्सेज़ किसान सभा ने अवध क्षेत्र में किसानों के बिखरे हुए असंतोष को एक संगठित, वैचारिक तथा संस्थागत स्वरूप प्रदान किया। इससे पूर्व किसान प्रतिरोध प्रायः स्थानीय, असंगठित और तात्कालिक कारणों तक सीमित रहता था, किंतु किसान सभा के गठन के साथ ही यह प्रतिरोध एक व्यापक सामाजिक-राजनीतिक आंदोलन के रूप में उभरने लगा। किसान सभा ने न केवल किसानों की आर्थिक दुर्दशा को सार्वजनिक विमर्श का विषय बनाया, बल्कि औपनिवेशिक शासन और ज़मींदारी व्यवस्था के संरचनात्मक अन्याय को भी चुनौती दी।

अवध में किसान सभा की गतिविधियों का तीव्र प्रसार हुआ और अक्टूबर **1920** तक प्रतापगढ़ जनपद में इसकी अनेक शाखाएँ स्थापित हो चुकी थीं। प्रतापगढ़, जो पहले से ही भारी लगान, बेगार प्रथा और ज़मींदारों के दमन के लिए कुख्यात था, किसान सभा के लिए एक उपजाऊ क्षेत्र सिद्ध हुआ। यहाँ के किसानों ने सभा को केवल एक संगठन के रूप में नहीं, बल्कि अपनी सामूहिक पीड़ा और आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति के मंच के रूप में स्वीकार किया।

इस आंदोलन को मदन मोहन मालवीय जैसे राष्ट्रवादी नेताओं के नैतिक और वैचारिक समर्थन ने व्यापक वैधता प्रदान की। मालवीय जी के हस्तक्षेप से किसान आंदोलन को भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन से जोड़ा गया, जिससे किसानों की मांगें केवल स्थानीय शिकायतों तक सीमित न रहकर राष्ट्रीय विमर्श का हिस्सा बन गईं। इसके साथ-साथ जिंगुरी सिंह जैसे स्थानीय किसान नेताओं की सक्रिय भूमिका ने आंदोलन को जमीनी स्तर पर मजबूती दी। स्थानीय नेतृत्व ने किसानों और संगठन के बीच सेतु का कार्य किया तथा आंदोलन को सामाजिक विश्वास और सहभागिता प्रदान की।

प्रतापगढ़ में किसान सभाओं द्वारा नियमित बैठकों, जुलूसों और पंचायतों का आयोजन किया जाने लगा। इन सभाओं के माध्यम से किसानों में अधिकार-चेतना का प्रसार हुआ और वे अपने शोषण के कारणों को संरचनात्मक दृष्टि से समझने लगे। किसान सभा द्वारा प्रस्तुत मांग-पत्र **(memorials)** इस आंदोलन का केंद्रीय उपकरण थे। इन मांग-पत्रों में प्रमुख रूप से—

- लगान की दरों में कमी,
- अवैध एवं परंपरागत बेगार प्रथा की पूर्ण समाप्ति,
- लगान भुगतान पर रसीदों की अनिवार्यता,
- तथा ग्राम स्तर पर पंचायतों के माध्यम से विवाद-निपटारा

जैसी माँगें शामिल थीं **(Siddiqi, 1978)**।

ये माँगें मात्र आर्थिक राहत तक सीमित नहीं थीं, बल्कि वे ग्रामीण स्वायत्तता **(rural autonomy)** और न्यायपूर्ण प्रशासन की अवधारणा को भी अभिव्यक्त करती थीं। पंचायतों द्वारा विवाद-निपटारे की माँग, विशेष रूप से, औपनिवेशिक न्याय व्यवस्था और ज़मींदारी नियंत्रण के विकल्प के रूप में उभरती है। इससे स्पष्ट होता है कि किसान केवल शोषण में कमी नहीं चाहते थे, बल्कि अपने सामाजिक-राजनीतिक जीवन पर नियंत्रण की आकांक्षा भी रखते थे।

इस प्रकार प्रतापगढ़ में किसान सभा का प्रभाव यह दर्शाता है कि किसान आंदोलन ने धीरे-धीरे आर्थिक प्रतिरोध से आगे बढ़कर सामाजिक और राजनीतिक चेतना के आंदोलन का रूप धारण कर लिया। यह आंदोलन न केवल ज़मींदारी सत्ता के लिए चुनौती बना, बल्कि औपनिवेशिक शासन की वैधता पर भी प्रश्नचिह्न खड़ा करने लगा। प्रतापगढ़ का किसान संघर्ष इस व्यापक अवध किसान आंदोलन का एक महत्वपूर्ण अध्याय सिद्ध होता है, जिसने आगे चलकर असहयोग आंदोलन और ग्रामीण राजनीति की दिशा को गहराई से प्रभावित किया।

3. सामूहिक कार्रवाई और राजनीतिक रणनीतियाँ

किसान सभाओं द्वारा अपनाए गए जनसभाएँ, सामूहिक बहिष्कार और असहयोग जैसे उपाय ग्रामीण प्रतिरोध की रणनीतिक परिपक्वता को दर्शाते हैं। ये केवल तात्कालिक आक्रोश की अभिव्यक्तियाँ नहीं थीं, बल्कि सोच-समझकर चुनी गई ऐसी कार्रवाइयाँ थीं जिनका उद्देश्य ज़मींदारी सत्ता की आर्थिक, सामाजिक और नैतिक वैधता को कमजोर करना था। जनसभाओं के माध्यम से किसानों ने पहली बार सार्वजनिक रूप से अपनी सामूहिक पहचान को स्थापित किया और अपने शोषण के अनुभवों को साझा कर एक साझा राजनीतिक चेतना का निर्माण किया।

ज़मींदारों के खेतों की जुताई से इनकार किसान प्रतिरोध का एक अत्यंत प्रभावशाली साधन सिद्ध हुआ। कृषि-आधारित ग्रामीण अर्थव्यवस्था में यह कदम प्रत्यक्ष रूप से ज़मींदारों की आय और प्रभुत्व को चुनौती देता था। खेतों की जुताई न होना केवल आर्थिक क्षति नहीं था, बल्कि यह इस बात का प्रतीक भी था कि किसान अब स्वयं को ज़मींदारी आदेश-तंत्र

का निष्क्रिय अंग मानने को तैयार नहीं थे। इसी प्रकार बाज़ार-बहिष्कार ने ग्रामीण सत्ता-संरचना के आर्थिक आधार को हिलाकर रख दिया। हाटों और मंडियों में सामूहिक रूप से अनुपस्थित रहकर किसानों ने यह स्पष्ट संदेश दिया कि वे उपभोक्ता और उत्पादक—दोनों के रूप में अपनी शक्ति से परिचित हो चुके हैं।

इन कार्रवाइयों ने ग्रामीण समाज में विद्यमान सत्ता-संबंधों **(power relations)** को अस्थिर कर दिया। जहाँ पहले ज़मींदार सामाजिक, आर्थिक और न्यायिक नियंत्रण का केंद्र हुआ करते थे, वहीं अब किसान सामूहिक निर्णय और अनुशासन के माध्यम से एक वैकल्पिक नैतिक व्यवस्था स्थापित करने लगे। इस संदर्भ में रणजीत गुहा का विश्लेषण विशेष रूप से प्रासंगिक है। गुहा के अनुसार, ऐसी कार्रवाइयाँ सबाल्टर्न राजनीति की स्वतंत्र तर्कशीलता **(autonomous rationality of subaltern politics)** को उजागर करती हैं, जो न तो पूर्णतः अभिजात राष्ट्रवाद से निर्देशित होती है और न ही औपनिवेशिक सत्ता के ढाँचे में समाहित होती है **(Guha, 1982)**। प्रतापगढ़ और अवध के किसान आंदोलन इस बात का प्रमाण हैं कि ग्रामीण जनता अपनी राजनीतिक भाषा, प्रतीकों और रणनीतियों का निर्माण स्वयं कर रही थी।

इस प्रकार किसान सभाओं द्वारा अपनाए गए असहयोग, बहिष्कार और प्रत्यक्ष आर्थिक अवज्ञा के उपायों ने प्रतापगढ़ तथा अवध के किसान संघर्ष को केवल एक क्षेत्रीय आंदोलन नहीं रहने दिया। यह संघर्ष धीरे-धीरे राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन की सामाजिक जड़ों को गहरा करने वाला तत्व बन गया। साथ ही, इसने यह भी स्पष्ट कर दिया कि भारतीय राष्ट्रवाद की सफलता ग्रामीण समाज की सक्रिय भागीदारी और सबाल्टर्न राजनीति की स्वायत्त ऊर्जा के बिना संभव नहीं थी।

दमन और औपनिवेशिक प्रतिक्रिया **(1921–1922)**

किसान आंदोलन की बढ़ती तीव्रता और उसके व्यापक सामाजिक प्रभावों ने औपनिवेशिक प्रशासन को गंभीर रूप से चिंतित कर दिया। प्रतापगढ़ सहित समूचे अवध क्षेत्र में ग्रामीण जनसभाओं की संख्या में वृद्धि, ज़मींदारों के विरुद्ध खुले बहिष्कार, तथा पंचायतों के माध्यम से वैकल्पिक सत्ता-रूपों के उभार ने औपनिवेशिक राज्य की वैधता और नियंत्रण-क्षमता पर प्रश्नचिह्न लगा दिया। औपनिवेशिक शासन, जो स्वयं को 'कानून और व्यवस्था' का संरक्षक बताता था, इस प्रकार के संगठित ग्रामीण प्रतिरोध को सार्वजनिक व्यवस्था के लिए एक संभावित खतरे के रूप में देखने लगा।

इसी पृष्ठभूमि में प्रशासन ने दमनात्मक उपायों का सहारा लिया। अनेक क्षेत्रों में धारा **144** लागू की गई, जिसके अंतर्गत सार्वजनिक सभाओं और जुलूसों पर प्रतिबंध लगा दिया गया। किसान सभाओं की बैठकों को अवैध घोषित किया गया और स्थानीय नेताओं तथा सक्रिय कार्यकर्ताओं की गिरफ्तारियाँ आरंभ हुईं। इस दमन का उद्देश्य केवल आंदोलन को तत्काल दबाना नहीं था, बल्कि ग्रामीण समाज में भय का वातावरण उत्पन्न कर सामूहिक कार्रवाई की संभावनाओं को दीर्घकालिक रूप से कमज़ोर करना भी था। औपनिवेशिक प्रशासन ने पुलिस और मजिस्ट्रेसी तंत्र के माध्यम से यह स्पष्ट संदेश देने का प्रयास किया कि राज्य की सत्ता को चुनौती देने की कोई भी कोशिश कठोर दंड का कारण बनेगी।

इसके साथ-साथ, औपनिवेशिक सरकार ने सीमित और नियंत्रित सुधारों की नीति भी अपनाई, ताकि आंदोलन की तीव्रता को कम किया जा सके। अवध किराया संशोधन अधिनियम जैसे विधायी उपाय इसी रणनीति का हिस्सा थे। इन सुधारों का उद्देश्य किसानों को कुछ कानूनी संरक्षण प्रदान करने का दावा करना था, किंतु व्यवहार में वे ज़मींदारी संरचना को मूलतः अप्रभावित छोड़ते थे। जैसा कि क्रॉली ने संकेत किया है, ये सुधार अधिकतर प्रशासनिक संतुलन बनाए रखने के प्रयास थे, न कि कृषक वर्ग की वास्तविक मांगों की पूर्ति **(Crawley, 1971)**। उच्च लगान, बेदखली की व्यापक शक्तियाँ और ज़मींदारों का सामाजिक-राजनीतिक प्रभुत्व यथावत बना रहा, जिससे किसानों में यह धारणा प्रबल हुई कि ये सुधार मात्र प्रतीकात्मक हैं।

किसानों की दृष्टि में यह विधायी पहलें उनके संघर्ष के मूल प्रश्नों को संबोधित करने में विफल रहीं। परिणामस्वरूप, दमन और आंशिक रियायतों के इस संयुक्त प्रभाव ने आंदोलन को अस्थायी रूप से कमजोर तो किया, किंतु उसे वैचारिक रूप से समाप्त नहीं कर सका। **1922** के बाद आंदोलन में संगठनात्मक विखंडन अवश्य दिखाई देता है—कई किसान सभाएँ निष्क्रिय हो गईं, नेतृत्व बिखर गया और सार्वजनिक प्रतिरोध के स्वर धीमे पड़ गए। फिर भी, यह विखंडन कृषक चेतना के क्षय का संकेत नहीं था।

मार्क्सवादी और सबाल्टर्न इतिहासलेखन के दृष्टिकोण से यह चरण विशेष रूप से महत्वपूर्ण है, क्योंकि यह दर्शाता है कि राज्य-दमन आंदोलन को स्थगित कर सकता है, किंतु उसके द्वारा उत्पन्न सामाजिक चेतना को पूर्णतः नष्ट नहीं कर सकता। किसानों के सामूहिक अनुभव—चाहे वे पंचायतों के माध्यम से हों, बहिष्कार की स्मृति के रूप में हों या ज़मींदारी अन्याय के साझा आख्यानों के रूप में—ग्रामीण समाज की स्मृति में अंतर्निहित हो गए। शाहिद अमीन के शब्दों में, ऐसे आंदोलनों की विरासत अक्सर प्रत्यक्ष संगठन के पतन के बाद भी स्मृति, प्रतीक और नैतिक चेतना के रूप में जीवित रहती है **(Amin, 1995)**।

इस प्रकार, **1922** के बाद प्रतापगढ़ और अवध के किसान आंदोलन का स्वरूप भले ही बदल गया हो, किंतु उसने ग्रामीण समाज में सत्ता, अधिकार और न्याय को लेकर एक स्थायी प्रश्न-चिन्ह छोड़ दिया। यही अंतर्निहित चेतना आगे चलकर अन्य किसान आंदोलनों, राजनीतिक सहभागिता और स्वतंत्रता-उपरांत भूमि-सुधार संबंधी विमर्शों के लिए वैचारिक आधार बनी।

4. प्रतापगढ़ आंदोलन का ऐतिहासिक महत्व

प्रतापगढ़ का किसान संघर्ष औपनिवेशिक भारत में ग्रामीण एजेंसी **(rural agency)** की एक सशक्त और ऐतिहासिक अभिव्यक्ति के रूप में उभरता है। इस आंदोलन ने उस औपनिवेशिक और राष्ट्रवादी धारणा को चुनौती दी जिसमें किसानों को केवल परिस्थितियों से संचालित, प्रतिक्रियाशील अथवा नेतृत्व-विहीन जनसमूह के रूप में प्रस्तुत किया जाता था। इसके विपरीत, प्रतापगढ़ के किसानों ने संगठित मंचों—विशेषतः किसान सभाओं और पंचायतों—के माध्यम से अपने हितों की स्पष्ट अभिव्यक्ति की और राजनीतिक हस्तक्षेप की ऐसी रणनीतियाँ विकसित कीं, जो स्थानीय सामाजिक संरचनाओं और औपनिवेशिक सत्ता दोनों को प्रश्नांकित करती थीं। इस प्रकार, किसान केवल उत्पीड़न के शिकार नहीं थे, बल्कि वे स्वयं को सक्रिय राजनीतिक अभिनेताओं के रूप में रूपांतरित कर रहे थे।

इस आंदोलन की विरासत को उसके प्रत्यक्ष संगठनात्मक ढांचे के विघटन के बावजूद समझा जाना चाहिए। **1922** के बाद किसान सभाओं की सक्रियता में भले ही गिरावट आई हो, किंतु किसानों के भीतर अधिकार, न्याय और सहभागिता को लेकर विकसित हुई चेतना समाप्त नहीं हुई। यह चेतना बाद के कृषक आंदोलनों—चाहे वे क्षेत्रीय हों या अखिल भारतीय—के लिए एक वैचारिक पूर्वपीठिका बनी। स्वतंत्रता संग्राम के दौरान ग्रामीण राजनीति में किसानों की बढ़ती भूमिका, भूमि-सुधार की मांगें और ज़मींदारी उन्मूलन की वैचारिकी इसी ऐतिहासिक अनुभव से प्रेरित दिखाई देती हैं।

अंततः, प्रतापगढ़ का किसान संघर्ष औपनिवेशिक भारत के सामाजिक इतिहास में एक ऐसे अध्याय के रूप में स्थापित होता है जो यह दर्शाता है कि सत्ता और प्रतिरोध का संबंध केवल शहरी, शिक्षित या अभिजात वर्ग तक सीमित नहीं था। ग्रामीण समाज, अपने सीमित संसाधनों और दमनात्मक परिस्थितियों के बावजूद, राजनीतिक कल्पनाशीलता और सामूहिक कार्रवाई की क्षमता रखता था। इस अर्थ में, प्रतापगढ़ का आंदोलन न केवल एक क्षेत्रीय किसान संघर्ष था, बल्कि वह औपनिवेशिक भारत में लोकतांत्रिक चेतना के ग्रामीण आधार की ऐतिहासिक पुष्टि भी करता है।

5. निष्कर्ष

1915 से **1925** के मध्य प्रतापगढ़ ज़िले में उभरा किसान संघर्ष औपनिवेशिक भारत में शोषण, प्रभुत्व और प्रतिरोध के बीच मौजूद जटिल और बहुस्तरीय अंतर्संबंधों को स्पष्ट रूप से उजागर करता है। यह आंदोलन केवल आर्थिक असंतोष की स्वतःस्फूर्त प्रतिक्रिया नहीं था, बल्कि वह औपनिवेशिक राजसत्ता, ज़मींदारी-ताल**Topics = land tenure regime, and rural society** के बीच तनावपूर्ण संरचनात्मक संबंधों की उपज था। उच्च लगान, बेगार, मनमानी बेदखली और औपनिवेशिक न्याय-प्रणाली की पक्षधरता ने ग्रामीण जीवन को असुरक्षित बना दिया था, जिससे किसान समाज के भीतर असंतोष एक संगठित राजनीतिक चेतना का रूप लेने लगा।

किसान सभाओं के गठन और उनके द्वारा संचालित सामूहिक कार्रवाइयों—जैसे जनसभाएँ, बहिष्कार, पंचायत-आधारित निर्णय और वैकल्पिक न्याय-प्रणालियाँ—के माध्यम से किसानों ने अपनी मांगों को सार्वजनिक और वैध राजनीतिक भाषा में रूपांतरित किया। यह केवल लगान में कमी या प्रशासनिक सुधार की मांग नहीं थी; इसके माध्यम से किसानों ने राजनीतिक स्वायत्तता, सामाजिक सम्मान और ग्रामीण जीवन पर नियंत्रण के अधिकार का दावा किया। इस प्रक्रिया में

ग्रामीण समाज ने औपनिवेशिक शासन द्वारा आरोपित कानूनी और प्रशासनिक ढाँचों के समानांतर वैकल्पिक संस्थागत रूपों का निर्माण किया, जो उनकी सामूहिक एजेंसी को रेखांकित करते हैं।

यद्यपि औपनिवेशिक प्रशासन द्वारा प्रस्तुत सुधार—जैसे अवध किराया संशोधन अधिनियम—सीमित और आंशिक थे तथा वे ज़मींदारी संरचना को मूलतः चुनौती देने में असफल रहे, फिर भी आंदोलन की ऐतिहासिक महत्ता केवल उसकी तात्कालिक उपलब्धियों से नहीं आँकी जा सकती। दमन, कानूनी प्रतिबंधों और संगठनात्मक विघटन के बावजूद, इस संघर्ष ने ग्रामीण समाज के भीतर अधिकार, न्याय और सहभागिता को लेकर एक स्थायी चेतना विकसित की। यह चेतना आगे चलकर न केवल अन्य कृषक आंदोलनों को प्रेरित करती है, बल्कि स्वतंत्रता संग्राम की ग्रामीण राजनीति और स्वतंत्रता-उपरांत भूमि-सुधार संबंधी विमर्शों का भी आधार बनती है।

इतिहासलेखन के स्तर पर, प्रतापगढ़ का किसान संघर्ष उस प्रवृत्ति को चुनौती देता है जो किसानों को निष्क्रिय या मात्र राष्ट्रवादी नेतृत्व के अनुयायी के रूप में प्रस्तुत करती है। इसके विपरीत, यह आंदोलन यह दर्शाता है कि किसान स्वयं अपनी ऐतिहासिक परिस्थितियों को समझने, उनका प्रतिरोध करने और वैकल्पिक राजनीतिक कल्पनाएँ गढ़ने में सक्षम थे। इस प्रकार, प्रतापगढ़ का किसान संघर्ष भारतीय कृषक राजनीति के इतिहास में न केवल एक महत्वपूर्ण क्षेत्रीय आंदोलन के रूप में, बल्कि ग्रामीण एजेंसी, सबाल्टर्न राजनीति और औपनिवेशिक सत्ता के आलोचनात्मक अध्ययन के एक स्थायी संदर्भ-बिंदु के रूप में स्थापित होता है।

संदर्भ सूची

- Amin, Shahid. Event, Metaphor, Memory: Chauri Chaura 1922–1992. Berkeley: University of California Press, 1995.
- Crawley, W. F. “Kisan Sabhas and Agrarian Revolt in the United Provinces, 1920–1921.” Modern Asian Studies 5, no. 3 (1971): 231–247.
- Guha, Ranajit (ed.). Subaltern Studies I: Writings on South Asian History and Society. Delhi: Oxford University Press, 1982.
- Guha, R. (1999). Elementary aspects of peasant insurgency in colonial India. Duke University Press.
- Hardiman, David. Peasant Resistance in India, 1858–1914. Delhi: Oxford University Press, 1992.
- Moore, Barrington Jr. Social Origins of Dictatorship and Democracy: Lord and Peasant in the Making of the Modern World. Boston: Beacon Press, 1966.
- Siddiqi, Majid Hayat. Agrarian Unrest in North India: The United Provinces, 1918–1922. New Delhi: Vikas Publishing House, 1978.
- Siddiqi, M. H. “The Peasant Movement in Pratapgarh, 1920.” The Indian Economic and Social History Review 9, no. 2 (1972): 215–234.
- Stokes, Eric. The Peasant and the Raj: Studies in Agrarian Society and Peasant Rebellion in Colonial India. Cambridge: Cambridge University Press, 1978.
- Thompson, E. P. “The Moral Economy of the English Crowd in the Eighteenth Century.” Past & Present, no. 50 (1971): 76–136.
- Pandey, Gyanendra. “Peasant Revolt and Indian Nationalism: The Peasant Movements in Awadh, 1919–1922.” In Subaltern Studies I, edited by Ranajit Guha, 143–197. Delhi: Oxford University Press, 1982.
- Chandra, Bipan. Nationalism and Colonialism in Modern India. New Delhi: Orient Longman, 1979.
- Chakrabarty, Dipesh. Rethinking Working-Class History: Bengal 1890–1940. Princeton: Princeton University Press, 1989.
- Marshall, P. J. (1984). Rulers, Townsmen and Bazaars-Rulers, Townsmen and Bazaars: North Indian Society in the Age of British Expansion, 1770–1870. By CA Bayly. Cambridge University Press: Cambridge, 1983. Pp. xiv, 489. Modern Asian Studies, 18(1), 153-156.
- Dhanagare, D. N. Peasant Movements in India, 1920–1950. Delhi: Oxford University Press, 1983.
- Metcalf, B. D. (1995). Presidential address: Too little and too much: Reflections on Muslims in the history of India. The Journal of Asian Studies, 54(4), 951-967.
- Mukherjee, A., & Kochanek, S. A. (2003). Imperialism, nationalism and the making of the Indian capitalist class, 1920-1947. Pacific Affairs, 76(3).